चतुर्थ अध्याय

" निम्नवर्गों का सांस्कृतिक पक्ष "

अध्याय - 4

निम्नवर्ग का सांस्कृतिक पक्ष

विषय प्रवेश :-

सृष्टि के आदिम युग से ही मानव अपने जीवन की प्रगति एवं उन्नति के हेतु प्रयत्नशील रहा है। इस प्रयत्नशीलता में उसने जीवन के हर क्षेत्र में कुछ न कुछ सफलता प्राप्त की है। मानव को प्रयत्न के फलस्वरुप धार्मिक, दार्शनिक, सामाजिक, साहित्यिक एवं कलात्मक क्षेत्र में जो उपलब्धियाँ हो गई है प्रायः उनके सम्मिश्रण को ही "संस्कृति" कहते है। इस संदर्भ में हमें डा. सत्यकेतु विद्यालंकार का कथन उचित लगता है - "मनुष्य ने धर्म का जो विकास किया, दर्शनशास्त्र के रुप में जो चिन्तन किया, साहित्य, संगीत और कला का जो सृजन किया, सामूहिक जीवन को हितकर और सुखो बनाने के लिए जिन प्रथाओं और संस्थाओं को विकसित किया - उन सबका समावेश हम "संस्कृति" में कर सकते हैं।"[1] संस्कृति के कारण ही मानव और मानव समाज को अनूठा महत्व प्राप्त हो चुका है। स्पष्ट है कि संस्कृति एक व्यापक विषय हैं जिसमें मानव की वैचारिक उपलब्धियाँ समाविष्ट हैं।

संस्कृति शब्द की व्युत्पति एवं अर्थ :

"संस्कृति" यह शब्द इन्द्रधनुष्य की भाँति सतरंगी है। भारतीय एवं पाश्चात्य विचारकों ने इसकी विविध प्रकारसे व्याख्या प्रस्तुत की है।

"हिन्दी विश्वकोश" में संस्कृति शब्द का अर्थ इस प्रकार दिया है - संस्कृति (सं.स्त्री) सं-कृ-क्रिन।(1) शुध्दि - सफाई (2) संस्कार, सुधार, परिष्कार (3) सजावट, आराइश (4) सभ्यता, रहन-सहन आदि की रुढ़ि (5) 24 वर्षो के वृत्तों की संज्ञा।[2] "संस्कृति" शब्द संस्कृत भाषा के "सम्" उपसर्ग-पूर्वक "कृ" धातु से "सुट्" का आगम करके "क्तिन्" प्रत्यय लगाकर बना है, जिसका अर्थ है - संशोधन करना, सुधारना या परिष्कार करना।"[3] संस्कृति प्रायः उन गुणों का समुदाय समझी

जाती है, जो व्यक्ति को परिष्कृत एवं समृध्द बनाते है। डा. प्रसन्नकुमार आचार्य के शब्दों में - "संस्कृति में परिमार्जन और परिष्कार के अतिरिक्त शिष्टता एवं सौजन्य के भावों का भी समावेश हो जाता है।"[4]

आज हिन्दी में "संस्कृति" शब्द अंग्रेजी शब्द "कलचर" का पर्याय माना जाता है।

प्रायः संस्कृति शब्द का प्रयोग व्यापक और संकीर्ण आदि दो अर्थों में किया जाता है। "व्यापक अर्थ अनुसार संस्कृति समस्त सीखे हुए व्यवहार का नाम है, जो सामाजिक परम्परा से प्राप्त है। संकीर्ण अर्थ में संस्कृति एक वांछनीय वस्तु मानी जाती है। और संस्कृत व्यक्ति श्लाघ्य व्यक्ति समझा जाता है।"[5] संस्कृति शब्द को लेकर विद्वानों में मतभेद है।

संस्कृति : परिभाषा एवं स्वरुप :

भारतीय विद्वानों के मत :

संस्कृति के स्वरुप को लेकर भारतीय विद्वानों में भी काफी मतभेद है। श्री परशुराम चतुर्वेदी संस्कृति की व्याख्या करते है कि - "संस्कृति शब्द किसी व्यक्ति के पक्ष में बहुधा उसकी शिष्टता, सौजन्यता अथवा मानवताका बोधक होता है और इन गुणोंद्वारा उसकी ऐसी स्थायी मनोवृति वा ऐसे शील का पता चलता है जिसके कारण वह समाज में स्वभावतः उच्च कोटि का गिना जाता है।"[6] यह परिभाषा व्यक्ति और समाज परक लगती है। श्री गुरुदत्त, "संस्कारों से उत्पन्न व्यवहार को संस्कृति कहते है।"[7]

डॅा नगेन्द्र के शब्दों में, "संस्कृति मानव जीवन की वह अवस्था है जहाँ उसके प्राकृत राग-द्वेषों का परिमार्जन हो जाता है।"[8] इनके साथ ही हिन्दी के अनेक विद्वानों ने अपने-अपने मतानुसार संस्कृतिकी परिभाषा करने का प्रयत्न किया है, लेकिन इन सभी परिभाषाओं का विवेचन एवं विश्लेषण करना लघु-शोध-प्रबन्ध की सीमा को देखते हुए असंभव है। अतएव उसकी आवश्यकता भी नहीं है।

वस्तुस्थिति यह है कि संस्कृति शब्द अर्थ की दृष्टि से विकासशील रहा है। इसका अर्थ कभी रुढ़ एवं स्थिर नहीं हो सकता क्योंकि मनुष्य की प्रगति कभी रुकती नहीं। "जीवन के नवीन सौन्दर्य बोध ----यथार्थ के नवीन सन्दर्भ और बदलते हुए जीवन मूल्य इस शब्द के अर्थ को स्थिर नहीं होने दे सकते।"[9]

उपर्युक्त समग्र परिभाषाओं का निष्कर्ष यह है कि भारतीय विचारकों ने संस्कृति शब्द का विवेचन शुध्दि, संस्कार, परिष्कार, दर्शन, चिंतन, कला एवं अध्यात्मिक मूल्यों के परिप्रेक्ष में किया है।

CJIVAJ...

लगता है कि संस्कृति की कोई ठोस एवं निश्चित परिभाषा करना कठिन कार्य है। संस्कृति के बारे में हम केवल इतना ही कह सकते है कि "किसी समाज के मानसिक, बौध्दिक या अध्यात्मिक पक्ष को या उसकी आन्तरिक क्षमता के परिचायक को "संस्कृति" कहना उचित है।

पाश्चात्य विद्वानों के मत :

अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी "संस्कृति" को परिभाषित किया है। लेकिन यहाँ केवल दो-एक महत्वपूर्ण परिभाषाओं को उद्घृत करना ही समीचीन होगा। एडवर्ड सपीर के शब्दों में - "संस्कृति किसी देशी की सभ्यता का एक विशिष्ट परिवर्तन हैं।"[10] प्रायः पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृति और धर्म में गहरा सम्बन्ध स्थापित करते हुए संस्कृति के स्वरुप को स्पष्ट किया है। टी.एस्.इलियड संस्कृति और धर्म का संबंध स्पष्ट करते हुए लिखते है कि - "धर्म के अभाव में कोई संस्कृति प्रकटित अथवा विकसित नहीं होती।---- संस्कृति केवल विविध कार्यों का संचय ही नहीं बल्कि जीवन की पध्दति हैं।"[11]

उपर्युक्त भारतीय और पाश्चात्य परिभाषाओंके आधारपर संस्कृति के स्वरुप के बारे में कई निष्कर्ष प्रस्थापित किये जा सकते है कि संस्कृति की उपलब्धि जीवन में मूल्यों का समावेश करना है। द्वितीय प्रस्थापना यह हो सकती है कि संस्कृति का लक्ष्य परम्परागत मूल्यों का सम्प्रेषण, नए मूल्योंका निर्माण एवं उनका मानव जीवन में प्रयुक्त होनेवाली कार्यप्रणाली का निर्धारण करना हैं। सांस्कृतिक परम्पराका यह भाग ग्रंथ, संगीत, चित्रकला, मूर्तिकला, शिल्प कला आदि के माध्यम से साकार रुप प्राप्त करता है। जिसके सहारे एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को सांस्कृतिक सम्पदा विरासत में प्रदान करती हैं। तृतीय प्रस्थापना यह है कि संस्कृति में मानव जाति की क्षमता एवं योग्यता, ज्ञान एवं संहिता, नीति एवं पध्दति शैली एवं कला, भाषा एवं विज्ञान, दर्शन एवं चिन्तन, अनुभव एवं व्यवहारादि को सम्मिलित किया जा सकता हैं।

सभ्यता और संस्कृति :

कुछ लोग सभ्यता और संस्कृति को परस्पर पर्यायवाची मानते है, किन्तु दोनों में पर्याप्त भेद है। सभ्यता बाहय व्यवहार की तो संस्कृति आन्तरिक व्यवहार की वस्तु है। "किसी समाज की भौतिक प्रगति को सभ्यता और सभ्यता के मानसिक, बौध्दिक या आध्यात्मिक पक्ष को संस्कृति की संज्ञा दी जाती है। ---- सभ्यता समाज की बाहय सम्पन्नता, समृध्दि की द्योतक है, तो संस्कृति उसकी आन्तरिक क्षमता का परिचायक है।"[12] सभ्यता की पहचान मनुष्यके साधन और सम्पन्नता से, परस्पर आचार-व्यवहार से होती है और सांस्कृतिका संबंध मनुष्य के ईमान एवं सदाचार से है। "सभ्यता समाज

की बाहय व्यवस्था का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का।"[13]

सभ्यता भी सांस्कृतिका एक अंग है। सभ्याता व्यक्तिनिष्ठ होती है, किन्तु संस्कृति समाज या राष्ट्रनिष्ठ होती है। दिनकरजी लिखते है कि "सभ्यता वह चीज है जो हमारे पास है, संस्कृति वह है जो हममें व्याप्त है। मोटर, महल, सड़क, हवाई जहाज, पोशाक और अच्छा भोजन ये तथा इनके सामान सारी अन्य स्थूल वस्तुएँ संस्कृति नहीं, सभ्यता के सामान हैं। मगर पोशाक पहनने और भोजन करने में जो कला है वह संस्कृति की चीज है।"[14]

तात्पर्य यह कि सभ्यता और संस्कृति दोनों ही मनुष्यकी सृजनात्मक क्रियाओंके परिणाम है। जब यह क्रिया भौतिक होती है तब सभ्यता और जब आन्तरिक होती है तब संस्कृति कहलाती है। सभ्यता और संस्कृति न एक है न अलग-अलग है, वह एक ही व्यापक सत्य के दो छोर है, जिनका सम्बन्ध अन्योन्याश्रित है। सभ्यता और संस्कृति मानव-विकास के दो पहलू हैं। हमारी दृष्टि से वर्तमान तो सभ्यता का काल है, निश्चित रुप से संस्कृति का काल नहीं है।

समाज - साहित्य एवं संस्कृति का संबंध :

समाज एवं संस्कृतिका संबंध अन्योन्याश्रित है। एक के अभाव में दूसरे का अस्तित्व लुप्त हो जाता है। "संस्कृति" का आधार "समाज" है एवं "समाज"को सुचारूरुप से संचलित करनेवाली पध्दति "संस्कृति" है। जब किसी युग अथवा स्थान के समाज की संस्कृति उसकी आवश्यकताओं को पूर्ण करने में समर्थ नहीं होती, तब सांस्कृतिक विघटन की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है। इस प्रक्रिया के मध्य पुरातन सांस्कृतिक मूल्य क्षीण होते जाते हैं और उनके स्थानपर नवीन मूल्य स्थापित हो जाते हैं। ये नवीन मूल्य वर्तमान एवं भावी समाज तथा युग की आवश्यकताओं के अनुकूल होते हैं।

साहित्य समाज का संवाहक है तो समाज साहित्य का। दोनों एक दूसरे के नियामक है। दो में से एक को पूर्णतः जानने के लिए दूसरे को भी पूर्णतः जानना आवश्यक एवं अनिवार्य हो जाता है। प्रायः साहित्य को समाज का दर्पण कहा जाता है। हम जिस प्रकार दर्पण में हमारे चेहरे का प्रतिबिंब देखते है ठीक उसी प्रकार समाज का प्रतिबिंब साहित्य रुपी दर्पण में दिखाई देता है। साहित्य में ही युग विशेष की सामाजिक मान्यताएँ, सांस्कृतिक बिंब तथा जीवन के मूल्य प्रतिफलित होते हैं। युगीन साहित्य अपने युग के सामाजिक संघर्ष को वाणी एवं नूतन दिशा प्रदान करता है।

साहित्य तथा संस्कृतिका संबंध भी सनातन, अटूट है। साहित्य के निर्माण में युगीन संस्कृति मूलभूत वस्तु का स्थान ग्रहण करती है। संस्कृति के निर्माण में साहित्य प्रेरक, संचालक एवं संरक्षक की भूमिका निभाता है। साहित्यकार का जीवन-दर्शन युगीन पाठकों के भावजगत को प्रभावित

करता हुआ एक ओर संस्कृति के विकास में योगदान देता है तो दूसरी ओर उसे लिपिबध्द करता हुआ समकालीन संस्कृति को चिरंतन भी बना देता है। इस प्रकार साहित्य संस्कृतिका संरक्षक है और संस्कृति साहित्य की नियामक शक्ति है।

निष्कर्ष यह है कि समाज, साहित्य और संस्कृति एक-दूसरे-तिसरेपर अन्योन्याश्रित रहते हैं। इन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। साहित्य का निर्माण संस्कृति के कच्चे पदार्थ से समाज की भूमि में होता है। समाज में संस्कृति एवं साहित्य की महत्ता सर्वोपरि है। संक्षेप में यह तीनों एक-दूसरे के पूरक एवं सहयोगी है।

आँचलों में संस्कृति का विकास और नागार्जुन :

भारतीय-संस्कृति का मूल एवं सच्चा स्वरुप हमारे ग्राम जीवन में ही है। याने हमारा सारा सांस्कृतिक प्रसार कृषि और ग्राम-जीवन में ही परिव्याप्त है।

हमारे देशके विभिन्न अंचल ही हमारी संस्कृति के प्रतीक है। शहरों ने हमारी संस्कृति को कभी प्रभावित नहीं किया और न किसी सांस्कृतिक धारा को जन्म दिया है। गाँवो के सहज, स्वाभाविक प्रवृत्तियों की नकल करने का प्रयत्न ही शहरों में हुआ है। याने "शहर नकली संस्कृति के केन्द्र हो सकते हैं, संस्कृतियों के उद्‌गम केन्द्र नहीं।"[15] विभिन्न अंचलोंपर विशिष्ट दृष्टि से प्रयास किया जाए तो उससे हमारी बिखरी संस्कृतिका एकीकरण हो सकता है जो देश की एक अमानत हो सकती है। अंचलों के रीति-रिवाज, खान-पान, रहन-सहन, वेश भूषा, धार्मिक मान्यताएँ, रुढ़िया, वहाँ के लोकगीत, नृत्य, लोकभाषा, खेल-तमाशे, पर्व-त्यौहार आदि सबका विवेचन संस्कृति के अन्तर्गत आता है। प्रत्येक आंचल की संस्कृति भी भिन्न-भिन्न होती हैं। यह भिन्नता वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों के कारण निर्माण होती है।

नागार्जुन ने अपने उपन्यासों मे मिथिला प्रदेश के विभिन्न गाँवो के चित्रण द्वारा सांस्कृतिक वातावरण की निर्मिती की है। उन्होंने "बलचनमा" और "वरुण के बेटे" में स्थानीय लोकगीतों का भी आश्रय लिया है। "वरुण के बेटे" में कमला मैया का वंदना गीत, पूर्वजों के गीत तथा महाजाल खींचते समय के मछली गीत में जाति विशेष की संस्कृति झलकती है। "दुखमोचन" में ग्रामीण नव निर्माण में राष्ट्रीय पर्व मनाने का संकेत है। इसमें नागार्जुन ने गांधीवादी-समाजवादी दृष्टिकोण से ही नई ग्राम संस्कृतिको प्रस्तुत किया है। हमारे इस चतुर्थ अध्याय का प्रमुख उद्‌देश्य नागार्जुन जी के उपन्यासों में चित्रित निम्नवर्ग के सांस्कृतिक पक्ष का अध्ययन करना है। नागार्जुन के उपन्यासों का कथाक्षेत्र मिथिला अंचल होने से प्राय: वहाँ के सांस्कृतिक उपादानों का सजीव चित्रण उपन्यासों में हो गया हैं।

निम्नवर्ग का सांस्कृतिक पक्ष :

नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में मिथिला प्रदेश के ग्रामीण जीवन की लोक संस्कृति, लोक-चेतना और लोक जीवन आदि लोक तत्वोंको आधार बनाकर आंचलिक वातावरण की निर्मिती की है। सांस्कृतिक उपादानों में त्यौहार तथा मेले, रीति-रिवाज, पर्व-उत्सव, धार्मिक मान्यताएँ-अन्धविश्वास, हाट-बाजार, टोने-टोटकें, वेश-भूषा, लोक गीतों,रहन-सहन, भाषा आदि तत्वों का समावेश होता हैं। और मिथिला के ग्रामीण जन अपने संस्कारों तथा सांस्कृतिक तत्वों में अत्यन्त आस्था रखते हैं। नागार्जुन के "रतिनाथ की चाची", "बलचनमा", "नयी पौध", "दुखमोचन","बाबा बटेसरनाथ", "वरुण के बेटे", तथा "पारो" आदि उपन्यासों में मिथिला जनपद की लोक संस्कृति और जन-जीवन सजीव हो उठा है।

त्यौहार - उत्सव तथा मेले :

भारतवर्ष में त्यौहार-उत्सव और मेलों का अपना सांस्कृतिक महत्व है। नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में मिथिला के गाँवों में होने वाले विविध त्यौहारों तथा मेलों का पर्याप्त परिचय दिया है। मिथिला में मैथिल ब्राह्मण और कायस्थ परिवार में शादी के पहले साल श्रावण - शुक्ल तृतीया को नव-विवाहित वर-वधू के लिए "मधुश्रावणी" का त्यौहार होता है। "इस दिन वर घृत मिश्रित बाती की हल्की लौ से वधू के पैरों को छूता है, और वह "ईस" कर उठती है। सखी शीतोपचार करती है।"[16] जलती बाती को चुटकी से मसलकर बुझाने की प्रथा है। पार्वती के साथ यही किया जाता है, "पार्वती को टेमी से दागा ही गया।"[17] सावन के महीने में ही "तीज" का त्यौहार आता है। उस दिन स्त्रियां मधुर-मधुर गीत गाती है। श्रावण मास में ही गांवोंमें रात को चौपड़ के समान "पचीसी" नाम का खेल खेला जाता है - "दिगो के दालान पर उस रात पचीसी खूब जमी थी। माहे और बूलो नहीं आ सके थे, बाकी सभी आये थे।"[18]

भाद्रपद मास में शुक्ल चौथ को, नैवद्य और निवेदनपूर्वक उगते चाँद को देखने का त्यौहार होता है जिस "चउड़-चन" कहा जाता है। "बूलो की भाभी के घर चउड़-चन के दिन ढ़ाई-तीन महीने बाद वह आई थी। कितनी खुश हुई थीं भाभी। पकवान छानना छोड़कर उठ आई और कसके बीसो के गाल चूम लिये थे, एक नहीं अनेक बार।"[19] मिथिला जनपदों में दिवाली सामान्य ढंग से ही मनाई जाती है - "दिवाली के दिन दिगम्बर और दुर्गानन्दन पदुमपुरा पहुँचे। वाचस्पति को पहले ही खबर कर दी गई थी, वह घर पर ही मिला।"[20]

मिथिला जनपद में भैया दूज का त्यौहार विशेष रुप से मनाया जाता है। कार्तिक शुल्क

द्वितीया उन लोगों के लिए महत्वपूर्ण तिथि मानी जाती है, जिनकी बहन जीवितहो। 'भाई दूज का यह त्यौहार उमानाथ के लिए बचपन से ही आनन्द और उत्सव का दिन रहा है। ब्याहकर दूर चली जाने पर भी प्रतिभामा प्रतिवर्ष अपने भाई को इस त्यौहार के अवसर पर बुलवाती ही।'[21] बेतिया में विजया दशमी को बहुत बड़ा मेला लगता है, जिसमें गाय बैल आदि जानवर बिक्री के लिए आते हैं। छठी का उत्सव भी धुमधामसे मनाया जाता है। 'मंगल के घर लड़का पैदा हुआ। छठी धूमधाम से हुई। भोज-भात, नाच-गाना, हँसी-खुशी----।'[22]

रक्षा बन्धन के दिन राजा बहादुर की कालाई में राखी बाँधने का उत्सव मनाया जाता है। विवाह के समय लड़की के द्वारा पेडों की पूजा भी करवायी जाती हैं- 'बिसेसरी को लेकर सधवा औरतें गांव के बाहर आम और महुआ के पेड़ पुजवाने गई थीं।-----बच्चे तक-पेड़पूजन के निमित्त जो शोभायात्रा निकली थी अपने आँगन से, उसी मेंशामिल होकर बाहर निकल गये थे।'[23] अश्विन के महीने में बड़ी धूम-धाम से दुर्गापूजा का उत्सव मनाया जाता है। कुलदेवता-ग्रामदेवता की पूजा भी लोग करते थे। 'पर्व और त्यौहार के दिनों में देवता-पितर आवेंगे, आँगन घर सूना रहेगा तो निराश लौट जायेंगे।'[24] सत्य नारायण के वक्त ढ़ोल, पिपिहारी वालें गाते-बजाते है। वसंत पंचमी, कृष्ण जन्माष्टमी, देव उठान आदि त्यौहार मनाने का उल्लेख नागार्जुन के उपन्यासों में मिलता है। निम्नवर्ग के लोग भी उसमें शामिल होते है।

निष्कर्षतः नागार्जुन के उपन्यासों में चित्रित मिथिला जनपदों में प्रायः हिन्दू-परंपराके अनुसार त्यौहार एवं उत्सव मनाये जाते हैं।

रीति-रिवाज और परंपराएँ :

संस्कृति तथा सभ्यता के व्यापक दायरे तथा अवयवों मे रीति-रिवाज और परम्पराएँ भी आती हैं। प्रत्येक सभ्यता तथा संस्कृतिवाले वर्गों के रीति-रिवाज के नियम भी अपने होते है, जो दूसरों से अपना अलग अस्तित्व बनाए रखते है। मिथिला के ग्रामीण-लोग अपने पारंपारिक संस्कारों, रीति-रिवाजों में बड़ी आस्था रखते है। मिथिला आंचल के विविध वर्गो में विवाह संबंधी अनेक रीतियाँ तथा रिवाज प्रचलित है। कुछ रीतियाँ विवाह से पूर्व, कुछ विवाह के समय और कुछ विवाह के बाद पूरी की जाती है। नागार्जुन ने मिथिला के लोगों के विवाह सम्बंधी रीति-रिवाजों का सविस्तर वर्णन अपने उपन्यासों में किया हैं। गर्मियों के दिनों मे वहाँ 'सौराठ' की सभा लगती है। जहाँ विवाहेच्छुक वर, उनके अभिभावक एवं कन्याओं के अभिभावक इकट्ठे होते है और अपनी लड़कियों-लडकों के विवाह संबंध जोड़ते है। कन्या-पक्ष वाले वर चुनने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है। विवाह तय

करने में मध्यस्त 'घटकराज' होते है जो विवाह संबंध जोड़ने के लिए वर-वधू के अभिभावक से रुपये लेते है, भ्रष्टाचार भी करते है। वहां 'पंजीकार' भी होते है जो लड़का-लड़की के पितृकुल तथा मातृकुल का लेखा-जोखा रखते है जिससे विवाह संबंध जोड़ने में आसानी होती है। यह विचित्र रीति प्राय: मैथिल ब्राह्मणों में ही प्रचलित है, उसका निम्नवर्ग के साथ प्रत्यक्ष संबंध नहीं हैं। "नयी पौध" में खोंखा पण्डित अपनी पन्द्रह वर्षीय नातिन बिसेसरी के लिए "सौराठ" से ही साठ वर्षीय दूल्हा चतुरानन चौधरी को चुनकर लाते है। 'सौराठ सभा' के समान 'बिकौआ' और 'पंजी' की प्रथा का भी प्रचलन ब्राह्मणों में है। अत: हम उनका सिर्फ नामोल्लेख कर रहे हैं, कारण निम्नवर्ग में इन प्रथाओं के प्रचलन का कोई उल्लेख नागार्जुन के उपन्यासों में नहीं है।

विवाह के अवसर वधु की मांग में सिन्दुर भरना, गांठ बांधना तथा फेरों की रीतियाँ भी होती है - "विवाह की बाकी विधियाँ सकुशल सम्पन्न हुईं मांग में सिन्दूर भी पड़ा, गाँठ भी बँधी, फेरे भी लगे----।"[25]विवाह के समय नाईद्वारा हवन की लकड़िया और कुम्हार द्वारा मंगल कलश लाने की प्रथा है। "वह देखो, नाई हवन की लकड़ियाँ ला रहा है, कुम्हार हाथी-पातिल-पुरहड़ और सकोरे वगैरह ले आया है।"[26] विवाह की सभी विधियाँ पुरी होने पर गांव के बड़े-बूढ़े वर-वधू के माथे पर दूब-अच्छत छींटकर आशीर्वाद देते है। शादी से पूर्व कुल देवता के समक्ष मंगल गान होता है जिसमें बूढ़ी और नयी-नवेली बहू-बेटिया आनंद से गाती है। कुल देवता की पिंडीपर मातृका पूजन एवं गणेश स्मरण भी किया जाता है। कोई शुभ कार्य करने के पहले यज्ञ आदि किये जाते हैं। पंडितों को दान-दक्षिणा दी जाती है।

विवाह के बाद निम्न जातियों में सुहागरात के दिन 'मुँह बजावन' की रस्म होती है। जिसके अनुसार दूल्हा प्रथम मिलन पर दुल्हन को कुछ रुपये या अँगूठी 'बोलावन' के तौर पर भेंट कर दे, तभी वह अपना मुंह खोलती है। इसी रस्म के अन्तर्गत दुलहिन ने "हथेली फैली तो उस पर दूल्हे ने सोने की एक अँगूठी धर दी ----।"[27] मिथिला जनपद में विवाह के बाद गौना का भी रिवाज है। बलचनमा का गौना होता है। मगर गौना से पूर्व किसी व्यक्ति के हाथों ससुराल में सगुन के रुप में कुछ सामान भेजा जाता है। चुन्नी यह काम करता है - "डोरा-सिन्दूर और सगुन का सामान लेकर चुन्नी मेरे ससुराल गया और गौने के लिए उन लोगों को राजी कर आया। यह एक किसिम की रसम-अदाई थी।"[28] ग्रामीण लोगों में आत्मीयता परमकोटि की होने से गौने के बाद घरवाले रोते है। मधुरी के गौने के वक्त "रोते-रोते खुरखुन के पपोटे सूज आए थे। मधुरी की माँ और भोला की दादी का भी यही हाल था। वे भी मधुरी के लिए हद से ज्यादा रोई थीं।"[29] गौना करके लौटते वक्त रिवाज के मुताबिक वर-वधू को एक डोली पर सवार होकर आँगन में दाखिल होना

पड़ता है। गौने की अगवानी के वक्त दूल्हा-दूल्हन के माथे पर धान छींटना, मुँह, बाहों, छाती और घुटनों से दही का स्पर्श करने की पध्दति है। सुहागरात की भी रस्म पूरी की जाती है, इस में वर-नववधु को कुछ रुपये देता है। छोटी जाति वालों में 'बिलौकी' की प्रथा है, इसके अनुसार दूल्हा-दुलहिन पालकी में बैठकर बड़े-बड़े लोगों के यहाँ आशीर्वाद लेने जाते है, जहाँ उन्हें कुछ रुपये मिलते है। ससुराल से गौना कर लौटते वक्त जमाई के साथ चीज-वस्तु और अनेक खाद्य पदार्थ दिये जाते हैं। जो आस पास के घरों में "बयने" के तौर पर बांटे जाते है। उमानाथ के ससुरालवालों ने केला, दही, चूड़ा, मिठाइयाँ, पकवान आदि जो चीजें दी थी, वह चाची ने कुछ नहीं रखी, सब बांट दी। "दामाद को हरेक त्योहार पर दही, पकवान, चूड़ा, केला, मिठाई-दो-चार चंगेरा भरिया के द्वारा जरुर भिजवाया है। सन्तान की ससुराल से आई सौगात की यह सामग्रियाँ लोग अड़ोस-पड़ोस में बयाना के तौर पर बँटवा देते हैं। सबकी मिठाई सब खाता हैं।"[30]

ब्राह्मण वर्ग में वर-वधू को विवाह के बाद तीन दिन कड़े ब्रह्मचर्य में बिताने पड़ते हैं, चौथी रात उनकी मिलन रात्रि होती है। सवर्ण जातियों में उपनयन संस्कार बड़ी धूम-धाम से मनाया जाता है। निम्नवर्ग के कई बिरादरियों में बचपन में शादी करने की प्रथा है। बलचनमा की शादी छ: सालकी उम्र में तीन-चार सालकी लड़की के साथ हो गयी थी। जब तक गौना नहीं होता था तब तक जमाई ससुराल नहीं जाता था। बलचनमा कहता है - "गौना से पहले ससुराल जाना हमारी बिरादरी का कायदा नहीं है।"[31] साथ ही बारात में औरतों को ले जाने का चलन नहीं था। स्त्रियाँ अपने दामाद से परदा करती है। बलचनमा कहता है - "बडी जात वालों के सामने हमारे घर की माँ-बहनें बहुत कम बोला करती हैं।"[32] बिहार के पूर्वी इलाके में स्त्री और पुरुष एक साथ समुदाय में तथा मनोरंजन के कार्यक्रमों में नहीं जाते। मस्तराम कहता है - "मेले-ठेले में, नहान में, हाट-बाजार में स्त्री-पुरुष अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं, इधर।"[33] साधु आदि के सिर के पवित्र बालों को नदी में बहाने की रीति भी साधु तथा भक्तों में है।

व्यक्ति की मृत्यु होने के बाद लाश को जलाकर स्नान आदि आवश्यक माना जाता है "वहीं रामसागर ने माँ का दाह-संस्कार किया। लाश जलने में बहुत देर नहीं लगी। सुबह होते-होते नहा-धोकर लोग वापस आ गये।"[34] दाह संस्कार होने के बाद हड्डियाँ और राख काशी जाकर गंगा नदी में बहाने की रक्षाविसर्जन की पध्दति भी दिखाई देती है। व्यक्ति के मरने के एक वर्ष बाद 'बरसी' करने की भी रीति है। मिथिला में श्राध्द का प्रचलन है - "रामपट्ठी का महापात्र आया, वार्षिक श्राध्द के क्रिया-कर्म दुखमोचन से उसी ने करवाये थे।"[35] "दुखमोचन" उपन्यास में वार्षिक श्राध्द पर "ज्योनार" देने की प्रथा दिखाई देती है। इस प्रथा में जाति-बिरादरी के लोगों को खाना दिया जाता है।

मिथिला के पिछड़े इलाकों में "खबास" प्रथा का रिवाज दृष्टिगोचर होता है। "रतिनाथ की चाची" उपन्यास में इस प्रथा का उल्लेख किया गया है। जिसमें राजा-महाराजा तथा जमींदार ताल्लूकेदार के यहाँ दहेज में अन्य वस्तुओंके साथ-साथ घर के काम के लिए किसी व्यक्ति को खरीदकर भेंट दिया जाता है। आगे यह परंपरा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती है। "कुल्ली राउत का परदादा ठीठर राउत था। उसने सात रुपये में अपने को रतिनाथ के परदादा के हाथ बेच दिया था।"[36] अब उसके स्थानपर कुल्ली राउत काम करता है।

निष्कर्षतः हम कहते है कि नागार्जुन ने मिथिला-अंचल की ग्रामीण संस्कृतिका सजीव चित्रण अपने उपन्यासों में किया है। मिथिला के ग्रामीण लोगोंके दिल में पारंपारिक रीति-रिवाजों में आस्था होने के कारण वे उनका पालन जान बुझकर करते है। देव-देवताओं की पूजा, उपनयन संस्कार, विवाह की विविध रस्मे और श्राध्द आदि का सूक्ष्म तथा वास्तव चित्रण हो गया है। निम्नवर्ग के लोग आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़े तथा अनपढ़ होने के कारण इन्हीं रीति-रिवाजों के प्रति धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य का नजर से देखते है।

अन्धविश्वास और श्रध्दाएँ :

नागार्जुन ने अपने उपन्यासों में बिहार के मिथिला प्रदेश के लोगों के अन्धविश्वास, तंत्र-मंत्र, भूत-प्रेत तथा शकुनापशकुनों की विस्तृत चर्चा कर आंचलिक परिवेश की निर्मिती की है। निम्नवर्ग के लोग अनपढ़, अन् अनुभवी तथा वैचारिक दृष्टि से सनातनी होने के कारण नदियों एवं देवी-देवताओं, जंत्र-तंत्र, भूत-प्रेतों में अटूट विश्वास रखते है। "बाबा बटेसरनाथ" उपन्यास में रुपउली गाँव के लोगों का शकुन-अपशकुन पर का विश्वास जैकिसुन के दादी के इन शब्दों से स्पष्ट होता है - "रात को काला कौआ चीखता रहता है कर्र-कर्र। दिन के समय गीदड़ हुआं-हुआं करता है ----- अब की भारी अकाल पड़ेगा।"[37] अकाल पड़ने पर देहाती लोग वर्षा के लिए सामूहिक पूजा करते है, पशुओं की बलि भी देते है जो अंधविश्वास के ही परिचायक है। बस्ती रुपउली के, "ग्वालों, अहीरों और धानुकों ने यहीं चार दिनों तक भुईंयाँ महाराज का पूजन किया, दस भेड़ें बलि चढ़ाई और दो जवान भाव खेलते-खेलते लहूलुहान होकर गिर पड़े थे, फिर भी राजा इन्दर खुश नही हुआ-- ।"[38] और स्त्रियों द्वारा तालाब से मेंढ़क लाकर ओखालियों मे मुसलों से कुचला दिया, गीतों में बादलों को बुलाया लेकिन सब व्यर्थ ही हुआ, यह सब धार्मिक अन्धविश्वास की झलक ही है। देवी-देवताओं, यक्षों तथा व्रह्म को प्रसन्न कर लेने के लिए ढोंगी तथा पाखण्डी बाबाओं द्वारा नरबलि देने की महाभयानक प्रथा को सामान्य लोग भी आवश्यक समझते थे। जमनिया के मठ में महाष्टमी के रात देवी को लक्ष्मी के

बच्चे की बलि दी और उसके शरीर के निर्दयता से टुकड़े करके हवन कुंड में डाल दिए थे। "क्वार के महीने में उस वर्ष मठ के अन्दर धूमधाम से दुर्गापूजा हुई थी। चंडी मैया को मनुष्य की बलि दी गई थी।"[39] लगता है कि संकट आने पर तथा पारलौकिक सुख की कल्पना से लोग अंधविश्वासी हो जाते है।

भूत-प्रेतों, टोने-टोटके तथा जंत्र-मंत्र आदि भूलावे में भी लोग फँसकर अपना अहित कर लेते है। "बलनमा" में दामो ठाकुर द्वारा सुखिया का भूत उतारना अंधविश्वास का ही मूल है। वह कहती है - "ही-ही-ही-ही मैं काली हूँ, पोखर पर जो बौना पीपल है उसी पर रहती हूँ, खा जाऊँगी समूचा गाव। बकरा दो बकरा -----।"[40] भूत-प्रेत को उतारने के लिए ओझा दामो ठाकुर, औघडबाबा आदि की बुलाहट होती है। वे मंत्र-जंत्र जपते है, लोगोंका मानसिक-काल्पनिक समाधान होता है। मंत्रों से निपूत्रिक पति-पत्नी को संतान प्राप्ति होती है, यह अंधविश्वास देहाती अनपढ़ स्त्रियों में अधिक होता है। "कुंभीपाक" उपन्यास की संतानहिन निर्मला को विभाकर की माँ उपाय बताते हुए कहती है "पुनपुन नदी के किनारे यहां से छै-सात कोसपर सन्तों की जमात टिकी हुई है। सोमवार को वहां भारी भीड़ जुटती है। मन्त्र पढ़ के भभूत चटा देते हैं और काम बन जाता हैं।"[42] "बाबा बटेसरनाथ" उपन्यास के रुपउली गाँव के लोगों का विश्वास है कि गाँव में "बरहन बाबा" का अड्डा है। तो उसे तृप्त करने के लिए बकरे की बलि चढ़ाई जाती है। लोगों की यह भी भावना है कि वटवृक्ष पर "पाठक बाबा" रहता,है तब अंधश्रध्दा के कारण उन में श्रध्दा तथा भावना की बाढ़ आती है। "हमारी बिरादरी के वनस्पतियों पर भूतों, पिशाचों, यक्षों, देवों, तथा ब्रह्मों की यह "दया दृष्टि" कोई नई बात नहीं।"[42] अतः लोग सोमवार और बुधवार को वटवृक्ष की वेदी पर चावल की पीठी के घोड़े खड़े करते है, स्त्रियाँ पिण्डियों पर दूध ढ़ालती है, अच्छन और फूल चढ़ाती है। परिवार की भलाई के लिए मिन्नते मानती है। "किसी के घर कोई शुभ कार्य होता तो यहाँ आकर पाठक बाबा का पूजन अवश्य कर लेता। मनोरथ पूरा होने पर लोग आकर धूमधाम से मनौतिया चढ़ाते।"[43] "नयी पौध" के बिसेसरी की मनौति थी कि "आने वाले अगहन में अगर कोई बीस या बाईस साला दूल्हा उसके लिए मिल गया और शादी हो गयी तो वह चांदी की छोटी-सी खुबसुरत बसुली गढ़वायेगी सुनार से और बांके बिहारी कुंवर कन्हैया के हाथों में थमा देगी।"

मंत्र-जन्त्र का उल्लेख "नयी पौध" में बिसेसरी के द्वारा भी हुआ है, "देवी-देवता का फूल अन्दर ड़ालकर लोग बड़े जतन से जन्तर मढ़वाते हैं तौंबे का, चाँदी का, सोने का, अष्ट धातु का, वे उसे बाँह में, गले में, कमर में बाँधते हैं कि हमेशा शरीर से लगा रहे।"[44] लोगों की श्रध्दा है कि देवी-देवताओं को भूत पिश्चाच्च ड़रकर भाग जाता है। दुसाध जाति के लोग इसलिए ही अपनी देवता

"सलहेस" की पूजा प्रतिमा स्थापन कर करते है।

निम्नवर्गीय लोगों के दिल में काली माता, सत्यनारायण, शंकर, रामकृष्ण तथा कमला नदी के प्रति अपार श्रध्दा होने से उसकी पूजा करते है। व्रत-उपवास करते हैं तथा शुभा-शुभ मुहुर्त के अनुरुप नये तथा अच्छे कामों को प्रारंभ करते है। सूर्यास्त के पहले मुहुर्त होने से जैकिसुन के परदादा ने बरगद का पौधा सूर्यास्त के पहले ही लगाया था। "रतिनाथ की चाची" उपन्यास की नायिका विधवा गौरी मंगल का उपवास रखती थी, "लेकिन कल मंगल है। मंगल को उपवास रखती है।"[45] गौरी की माँ अपनी बेटी गर्भ गिराने की मुसीबत से राजी-खुशी निकल गई तो बैजनाथ को गंगाजल भेंट करने की मनौति करती है। शुभंकरपुर के गांववाले मंगल और बुध के दिन उत्तर की ओर जाना अशुभ समझते है। व्रतों-पर्वो के दिन निम्नवर्ग के लोग अपने शरीर को यातनाएँ तथा कष्ट देकर अपने श्रध्दा-भक्ति का परिचय देते है। "इस साल चैत में वारुणी का परब आया तो राउत पाँव-पैदल गंगा नहा आए-सिमरिया घाट जाकर। गंगाजल और गंगामाटी लाये थे साथ।"[46] जमनिया के मठ में जाकर लोग खुद मस्तराम साधु के हाथ से आशीर्वाद के रुप में पीठ पर बेंत की कसकर फटकारे लगवा लेते। जवान और निपूति औरतें भी उसमें शामिल होती है। लोग इतने दैववादी है कि विधि के विधान को सर्वोपरि मानकर होनेवाली घटना को दैवी समझकर उसे टालने में अपनी असमर्थता व्यक्त करते है।

निष्कर्षतः नागार्जुन के उपन्यासों मे चित्रित निम्नवर्ग अंधश्रध्दा और धार्मिकता में विश्वास करता है। वे अपनी दुर्दशा का कारण अपना भाग्य समझकर पुराने विश्वास और श्रध्दा को चिपककर रहते है। स्वयं नागार्जुन को अंधविश्वास और भाग्यवाद से नफ़रत है। इसमें फँसकर अबोध भारतीय जनता किस प्रकार अपना अहित कर रही है इसका यथार्थ चित्रण उन्होंने अपने उपन्यासों में किया है। लेखकने हिन्दू जाति के साथ चिपकी इन अनावश्यक अंधश्रध्दा और रुढियों को "चमगादड़" बताकर उनकी खिल्ली उड़ाने का प्रयत्न किया है और ऐसी मूर्खताओं को "समाज में ठौर-ठौर इकट्ठा कूडा" बतलाया है। इन कुरीतियों को खत्म करने के लिए शिक्षा की समान सुविधा और आर्थिक शोषण से विरहित समाज व्यवस्थाकी अपेक्षा व्यक्त की है। "जमनिया का बाबा" उपन्यास में उन्होंने अपने यह विचार व्यक्त किये है - "सब पढ़-लिख जायेंगे और आराम का जीवन बिताने लगेंगे और गाँव-गाँव के अन्दर सुख और सम्पदा के सामान सुलभ होंगे और अपनी-अपनी मेहनत का कई गुना फल लोगों को हासिल होने लगेगा, फिर बाबा के दरबार में आशीर्वादी बेंत की फटकार खाने के लिए क्यों कोई आयेगा?[47] जब तक ऐसे सामाजिक व्यवस्था की स्थापना नहीं होगी तब तक शायद निम्नवर्ग इन अंधश्रध्दाओं तथा रुढियों के चंगुल से मुक्त नहीं होगा।

लोक-कथाएँ :

लोक-मानस में प्रचलित कथाएँ, लोक-कथाएँ कहलाती है। यह कथाएँ लिखित न होकर लोगों के कंठ में आश्रय लेती है और मुख के द्वारा ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती है। कंठ के सहारे ही लोक-मानस में जीवित रहती है। लोक-कथाएँ मानव की आदिम प्रथाओं उसके मूल्यों और विश्वासों की प्रतिनिधित्व करती है।

नागार्जुन के उपन्यासों में लोक कथाओं एवं लोक गाथाओं का चित्रण तो नाम मात्र को ही हुआ है। राजा सगर की कथा का सिर्फ उल्लेख उनके 'बलचनमा' उपन्यास में मिलता है। साथ ही 'बलचनमा' में ही सारंगी बजाकर भरथरी की कथा के गायन का उल्लेख मिलता है - 'सारंगीबाजों की भरथरी विलाप---'[48] तथा 'बाबा बटेसरनाथ' उपन्यास में बाबा के जन्म की कथा का वर्णन है।[49]

लोक-गीत :

लोक-गीत ग्रामीण जनता की भावनाएँ अनुभूतियाँ एवं कलात्मक रुचियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। लोकगीत किसी भी देशकी लोक-संस्कृति और लोक-जीवन के वास्तविक परिचायक होते है। ग्रामीण लोग जिन भावनाओं की अभिव्यक्ति सामान्य तौर पर करते हुए हिचकते है, उन भावनाओं की अभिव्यक्ति लोक-गीतों के माध्यम से विविध उत्सवों और पर्वों के अवसर पर वे बड़े कलात्मक और रोचक ढंग से करते हैं। डॉ. रवीन्द्र ने लोक-गीत के विषय में उचित ही लिखा है कि, "लोक-गीत लोक-मानव के व्यक्तिगत और सामूहिक सुख-दुःख की लयात्मक अभिव्यक्ति होते हैं। लोक-कथा की भाँति ये भी लोक-कण्ठ की मौखिक परम्परा की धरोहर और लोक-मानस की विविध चिन्ता-धाराओं के कोण माने गये हैं।"[50]

नागार्जुन के उपन्यासों में मिथिला-अंचल के लोक-गीतोंका सुन्दर परिपाक हो गया है जो वहाँ की संस्कृति और जनभावना के द्योतक है। 'बाबा बटेसरनाथ' उपन्यास में वटवृक्ष 'सहलेस' जो निम्न जाति का वीर पुरुष था, उसकी कथा चरवाहे के गीतद्वारा सुनाते है। निम्न जाति के एक चरवाहे के दिलमें अपने परमात्मा के प्रति जो व्याकुलता है वह उसने भैंस के पीठ पर बैठकर गाये इस पद से स्पष्ट होती है -

"उमर बीत गई

बाल पकने लग गए

पिछ्ले बारह वर्षों से

इस आँचल में गाँठ बाँध रखी है मैंने

आने का लेता है तो भी नहीं नाम

न्ठुिर मेरा दुसाध ----

राजा सहलेस प्रीतम मेरे। "51

"बलचनमा" उपन्यास में आमके बौर से हवा में फैलती सुगंध, कोयल की तान तथा प्राकृतिक सुषमा मैथिली भाषा के इस गीत में जीवन्त हो उठी है -

सखि हे मजरल आमक बाग?

कहू-कहू चिकरए कोइलिया

झीगुर गावए फाग।

कन्त हमर परदेस बसइ छथि

बिसरि राग-अनुराग। ----52

यह गीत हमें शहरों से काफ़ी दूर किसी अमराई में ले जाकर खड़ा कर देता है। आमके बाग का महत्व और गीत का माधुर्य भूलना असंभव हो जाता है।

नागार्जुन ने लोक-गीतों का प्रयोग "वरुण के बेटे" में अधिक मात्रा में याने छह गीत प्रस्तुत किये हैं। लगता है उपन्यासकार ही प्रकृति की गोद में बैठकर स्वयं गा रहे है। अकले में चुप्पी अखरने के कारण मधुरी सिल पर लोढ़ा चलाते-चलाते अपने प्रियकर मंगल को याद कर गुनगुनाती है -

"जीना हुआ मुश्किल, जवानी हुई घातक,

न डालो, न डालो ओ मेरे दिल के चाँद।

स्नेह और प्रीति का जाल।।

आओ, आओ, देख जाओ हाल।।

जीना हुआ दूभर, जवानी हुई काल। "53

इस गीत में मधुरी के दिल की विकलता और यौवन छटपटा रहा है, उसके दिल का हाल बेहाल हो गया है। मछुए के द्वारा फैला महाजाल खींचते वक्त मछुओं के समुह की विराट श्रम शक्ति काम में लाने के लिए और श्रम-परिहार के उद्देश्य से मिलकर गाते हैं-

- ऊपर टान,

- हुइ यो।

-बाएँ दबके,

- हुइ यो।

-ढील रस्सा

-हुइ यो।[54]

ऐसे गीतों के द्वारा अपनी पुरी ताकत के साथ तालाब में जाल ड़ालने-खींचने-निकालने की शक्ति मछुओं का प्राप्त होती है। "वरुण के बेटे" का ही चुल्हाई मधुरी के लिए जान देता था, उस पर फिदा था। लेकिन मधुरी ने कभी उसकी प्रशंसा नहीं की थी, न उसके प्यार की भावना का स्वीकार किया था। अतः चुल्हाई अपना व्यथीथ हृदय गीत में मधुरी को सुनाता है -

'कबहूँ पकड़ में न आवे मछरिया।

जुलमी मछरिया चलबल मछरिया। - - -[55]

प्रायः मछुए अपने जीवन की व्यथा, दुःख-दर्द भुलने के लिए नशा-पान करते है। खुरखुन और भोला नशे में चूर होकर अपना दुखड़ा भूलते है। खुरखुन नशा की खुमारी में गाता है -

'पी ले, पिला दे।

मरों को जिला दे।

दिलों को मिला दे

अंगुरिया हिला ले

चुनरिया सिला ले

नजरिया मिला ले- - - -।'[56]

यह मछुए कमला नदी को उद्देश्यकर वंदना गीत भी गाते है।

निष्कर्ष में लोकगीतों के प्रयोग से नागार्जुन के उपन्यासों का माधुर्य बढ़ गया है और आंचलिकता में स्वाभाविकता आ गयी है। मिथिला क्षेत्र की बोली, संस्कृति, रहन-सहन आदि का वास्तविक प्रतिबिंब नागार्जुन के द्वारा प्रयुक्त लोक-गीतों में हुआ है। जन सामान्य का आनंद और दुःख, युवा मन की उमंगों और दिल की धड़कनोंने लोक-गीतों में आश्रय पाने से उनका महत्व अक्षुण्ण बन पड़ा है। नागार्जुन के उपन्यासों में लोक-गीत बाहरी तथा कृत्रिम नही लगते तो पात्रों की आन्तरिक प्रेरणा से प्रस्फुटित होने से स्वाभाविक लगते है।

लोक भाषा :

लोक-भाषा अंचल विशेष का प्राण होती है। नागार्जुन के उपन्यासों के निम्नवर्गीय पात्रों की भाषा आंचलिक है। जिसमें प्रसंगानुरुप मैथिली भाषा के शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। नागार्जुन का उपन्यास साहित्य भारत की बहुसंख्यक श्रमजीवी जनता किसान-मजदूर का साहित्य है अतः वह जन साधारण की बोली तथा भाषा में ही लिखा गया है, जो स्वाभाविक है। निम्नवर्ग के लोगों की भाषा स्थानीय रंग मे रंगी तथा उनके पेशे के अनुरुप प्रयुक्त हुई है।

भाषा :

नागार्जुन के उपन्यासों में चित्रित निम्नवर्ग के पात्र अपनी योग्यता तथा अनुभव के अनुसार आडम्बरहिन तथा सरल भाषा बोलते हैं। रतिनाथ की चाची अनपढ़ थी, वह स्वाभाविक रुप में कहती है - "कैसा दिमाग है दरिद्दर का, मुदा बच्चा-बच्चा कट मरेगा तभी रुस दखल होगा।"

निम्नवर्ग के लोग अपने-अपने प्रदेश की याने हिन्दी प्रदेशी खड़ी बोली, बंगाल का बंगाली, पंजाब की व्यक्ति पंजाबी बोलती है। "दुखमोचन" उपन्यास में कपड़े बेचनेवाला पंजाबी फेरीवाला अपने पास के कपड़े फैलाकर कहता है - "-बच्ची की सलवार के लिए यह साटन ले लो भैणजी।--- लओ जी। हमारे मुल्क में ऐसा महीन मलमल ओढ़नी के लिए पसन्द करते हैं, ठीक है भैणजी?"[57] नागार्जुन के श्रमजीवी किसान-मजदूर की भाषा उनके जीवन-आचरण की तरह सहज और सरल है, अर्थात् सामान्य वर्ग की बोली में नागार्जुन की भाषा जन-साधारण की भाषा हो जाती है। अशिक्षित स्त्री, हरखूं के मॉं की भाषा भी उसके सांस्कृतिक परिवेश की परिचायक है- "दुहाई मालिक की। दुहाई सरकार की। यह अनाज वापस रख लिजिए। यह मामूली गेहूँ नहीं है कि आसानी से हजम होगा। धरम का अनाज है मालिक।---- इसी ईमान पर तो दुनिया-जहान टिका है बबुअन।[58]

नागार्जुन जैसा जनवादी कथाकार ही साधारण जनता से साधारण की भाषा में बातें कर सकता है। कारण उनका इन लोगों के साथ प्रत्यक्ष संबंध और किसान-मजदूरों के साथ उनकी प्रतिबध्दता ही इसका कारण है। बलचनमा ने पहलीबार रेल्वे प्लेटफार्म देखा तो वह कहता है - "पहले पहिले अपनी जिंदगी में हड़ाही जंकसन का लाटफारम देखा तो अकिल हेरान हो गई।"[59] बलचनमा यह भी नहीं जानता कि मिनिस्टर क्या होता है, वह शिक्षित ब्रज बिहारी से पूछता है कि "बच्चू, मजिस्टर-कलस्टर तो सभी की समझ में आता है, यह मलिस्टर क्या होता है?" "मलिस्टर नहीं, मिनिस्टर।"[60] ब्राजाबिहारी बताता है।

"बाबा बटेसरनाथ" उपन्यास के किसान-मजदूर प्रायः खड़ी बोली का प्रयोग करते हैं। "वरूण के बेटे" उपन्यास के मछुए जाल खींचते वक्त मैथिल शब्दों का उच्चारण करते हैं जो स्वाभाविक भी है - "ऊपर टान,...ढील रस्सा...झाड़झमाड़,...पीछे हटके...साबित ख्याल..., रेहू ब्वारी ... मोदनी मुन्ना....हुईयो।"[61] देहाती निम्नवर्गीय पात्र ग्राम्य शब्दों का प्रयोग करते दिखाई देते हैं। बलचनमा कहता है - "गिलैसन घूमते हुए टीसन पर आए।" आज दरभंगा की पढ़ी - लिखी जनता भी ग्रियर्सन बाजार को "गिलेसन" और स्टेशन को "टीसन" बोलते है। बलचनमा के यह शब्द "थोडा-सा और पढ़ते तो-परफेसर हो जाते। धन-दौलत की तो कोई कमी थी नहीं, विलैत भी जा सकते थे और बलिस्टर भी हो सकते थे।"[62] उसके निरक्षर किसान-मजदूर होने का परिचय देते है। वह परिनिष्ठित तथा साफ-सुथरी भाषा नही बोल सकता। वह ऐसे शब्दों और वाक्यों का प्रयोग करता है कि जो मिथिला के गाँवों के ग्रामीण लोग बोलते हे। जैसे चँदोवा, घिचिर-पिचिर, टिपिर-टिपिर, पछीटते, आसिन, गत्ती, ढिबरी, लजकोटोर, कुठाँव, ठठरी आदि। उसकी भाषा में लोक प्रचलित तद्भव शब्द और ग्रामीण उच्चारणों की अधिकता हैं।

मुहावरे-कहावते और लोकोक्तियाँ :-

भाषा ही समाज की सांस्कृतिक दरिद्रता नष्ट करने का साधन होने से नागार्जुन ने उसका प्रयोग सोच-समझकर किया है। इसके लिए उन्होंने मुहावरों, कहावतों आदि का सहारा लिया है। उनके उपन्यासों में चित्रित निम्नवर्ग के कई प्रतिनिधि दरभंगा में प्रचलित मुहावरों और कहावतों का प्रयोग करते दिखाई देते हैं। जैसे कहावते "खग ही जाने खग ही भाषा" (बलचनमा),"आग लगते झोपड़ी जो आवैसो हाथ" (वरूण के बेटे),"दूर के ढ़ोल सुहावने"(वरूण के बेटे),"जले गाँव पर सुरज भी जलता है" (दुखमोचन) कई मैथिल कहावते भी प्रयुक्त हो गयी हैं। मुहावरे - मुट्ठी बाँधकर खर्च करना(रतिनाथ की चाची), नाक कट ली (नयी पौध) "नाक में कौंडी बाँधना, पेट का पानी हिलना (बललचनमा), गुस्सा घोंट कै पीना (उग्रतारा), नाक में नकेल ड़ालना (दुखमोचन), कान पाथकर (नयी पौध) आदि। लोकोक्तियों में - "शेर शेर हैं - गीदड़ गीदड़ है (नयी पौध) "उडती चिड़िया की पूँछ में हल्दी लगाना, (कुम्भीपाक) आदि सैकड़ो कहावतों और मुहावरों का प्रयोग निम्नवर्ग के लोगों द्वारा हुए हैं। नागार्जुन द्वारा अश्लील गालियों और वर्जित ब्यौरो का प्रयोग भी हुआ है,लेकिन निम्नवर्ग के मुँह से ऐसे प्रयोगों की मात्रा कम ही हुई है। "बलचनमा" में नौकरानी द्वारा बलचनमा को गालियाँ देना आदि का उल्लेख है। मरने के दो दिन पहले बलचनमा के दादी की इच्छा पोठी मछली खाने की हो गयी। उसे लाने के लिए बलचनमा को देर होने से नौकरानी कहती है - "जाओ न आज, मलिकाइन गाँड का गूदा निकाल लेंगी..।..खाओ,खुब

खाओ, गाँड फटेगी तो मालुम होगा---- चल बदमस्वा, मलिकाइन के पास---।"[63] अन्य उपन्यासों में भी कई जगह ऐसे अश्लील तथा वर्जित भाषा के प्रयोग हुए है, लेकिन उनका संबंध हमारी दृष्टिसे निम्नवर्ग के पात्रों के साथ सीधा नहीं है। अर्थात् ऐसे प्रयोग स्वाभाविकता और यथार्थता के आग्रह से ही हुए हैं।

संक्षेप में नागार्जुन के उपन्यासों में चित्रित निम्नवर्ग की भाषा उचित तथा स्वाभाविक होकर अपने संस्कार और स्तर के अनुरुप है। उनकी भाषा सीधी-सादी और सरल है, उसे सजाने-सँवारने का प्रयत्न न होने से प्रवाहपूर्ण है। नागार्जुन ने पात्रों को अपनी रुचि, योग्यता और परिवेश के अनुकूल भाषा का प्रयोग करने की स्वतंत्रता दे दी है।

निष्कर्ष :

नागार्जुन के उपन्यास साहित्य में अवतरित उपर्युक्त लोक संस्कृति के विविध उपादनों एवं सांस्कृतिक मूल्यों के आधारपर कहा जा सकता है कि उपन्यासों में चित्रित निम्नवर्ग सांस्कृतिक दृष्टिसे पुरातन होते हुए भी समृध्द है। सामाजिक रीति-रिवाज और लोक-गीतों के मीठे बोल निम्नवर्ग के जीवन का आकर्षण है। नागार्जुन ने भाषा की दृष्टि से पंरपरागत तथा स्वाभाविक रुचि का परिचय दिया है। साथ ही प्राचीन अंधविश्वास और रुढ़ियों का खण्डन कर नया वैज्ञानिक तथा तार्किक जीवन पथ प्रशस्त करने का प्रयत्न किया है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि बलि आदि से देवी-देवता खुश नहीं होते, ये तो साधुओं द्वारा भोली जनतापर अपना आतंक जमाने की चाल मात्र है। "बाबा बटेसरनाथ" उपन्यास में उन्होंने खुलासा किया है कि "मनुष्यो और पशुओंकी बलि चाहनेवाले देव-देवियाँ अब पुराणों में बंद है। यह अंधश्रध्दाएँ सामाजिक दृष्टि से केवल कूड़ा है। नागार्जुन के उपन्यासों में रीति-रिवाज, लोक-गीत, पर्व-त्यौहार-मेलों आदि से संबंधित सभी पक्ष निम्नवर्ग की दृष्टि से जीवन्त हो उठे है। कारण निम्नवर्ग के जीवन को उपन्यासकार नागार्जुन ने नित्य रुपमें देखा-समझा एवं अनुभूत किया है।

संदर्भ सूची :

1. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास : डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, द्वि.सं.1956, पृ.19
2. हिन्दी विश्व कोश : विशं भाग, खण्ड 23, पृ. 440
3. उपन्यासकार नागार्जुन : बाबूराम गुप्त, प्र.सं. 1985, पृ. 110
4. भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता: डॉ. प्रसन्नकुमार आचार्य, सं. 2014 पूर्वाभास, पृ. 1
5. महिला उपन्यासकारों की रचनाओं में बदलते सामाजिक सन्दर्भ : डॉ. शिलप्रभा वर्मा, 1987, पृ. 249
6. बौध्द साहित्य की सांस्कृतिक झलक : आ. परशुराम चतुर्वेदी, प्र.सं. 1958 पृ. 2
7. धर्म, संस्कृति और राज्य : गुरुदत्त, प्र.सं. 1965, पृ. 28
8. साकेत एक अध्ययन : डॉ. नगेन्द्र, प्र.सं. 1955, पृ. 100
9. रीतिकालीन काव्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि : डॉ. वे. वेंकटरमणराव, प्र.सं. 1972 पृ.17
10? We may accept the culture as signifying the existence mold of national civilisation - writing of Edward sapir. P.No. 314
11. "No Culture has appeared or developed, he says, except together a religion ----- culture is not merely the sum of several activities but a way of life. (T.S. Eliot, Notes towards "The Defina tions of Culture".) Book Ibid.ed 1890; P.No.15
12. हिन्दी उपन्यास की प्रवृतियाँ : शशिभूषण सिंहल, प्र.सं. 1970, पृ. 121
13. हिन्दी उपन्यास - साहित्य का सांस्कृतिक अध्ययन : डा. रमेश तिवारी, प्र.सं. 1972, पृ.13
14. संस्कृति के चार अध्याय : रामधारी सिंह "दिनकर", प्र.सं. 1958, पृ. 651
15. हिन्दी उपन्यास की प्रवृतियाँ : शशिभूषण सिंहल प्र.सं. 1970 पृ. 119
16. रतिनाथ की चाची : नागार्जुन, प्र. सं.1948 (कि.म.), पृ. 154
17. पारोः नागार्जुन (श्री कुलानंद मिश्र द्वारा हिन्दी अनुवाद) (संभावना) प्र.सं.1975, पृ.69
18. नयी पौध : नागार्जुन, प्रकाशन 1980 (राजकमल), पृ. 98
19. नयी पौध : नागार्जुन, प्रकाशन 1980 (राजकमल), पृ. 102
20. वही : पृ. 121

21. रतिनाथ की चाची : नागार्जुन,प्र.सं.(वाणी) 1985, पृ.70
22. वरुण के बेटे : नागार्जुन, प्र.सं. (वाणी) 1984, पृ. 110
23. नयी पौध : नागार्जुन, प्रकाशन 1980, पृ. 44
24. रतिनाथ की चाची : नागार्जुन, प्र.सं. 1985,पृ.103
25. दुखमोचन : नागार्जुन, संस्करण 1981 (राजकमल), पृ. 84
26. नयी पौध : नागार्जुन, प्रकाशन 1980 (राजकमल), पृ. 38
27. वही : पृ. 131
28. बलचनमा : नागार्जुन, प्र.सं. 1989 (वाणी), पृ.120
29. वरुण के बेटे : नागार्जुन, प्र.सं. (वाणी) 1984, पृ. 53
30. रतिनाथ की चाची : नागार्जुन, प्र.सं. (वाणी) 1985, पृ. 121
31. बलचनमा : नागार्जुन, प्र.सं. 1989 (वाणी), पृ. 95
32. वही : पृ. 64
33. जमनिया का बाबा : नागार्जुन, (किताब महल) प्र.सं. 1968 पृ. 52
34. दुखमोचन : नागार्जुन, संस्कारण 1981 (राजकमल), पृ. 10
35. वही : पृ. 60
36. रतिनाथ की चाची : नागार्जुन, प्र.सं. (वाणी) 1985, पृ.31
37. बाबा बटेसरनाथ : नागार्जुन, तीसरा सं. 1989 (राजकमल), पृ. 59
38. वही : पृ. 54
39. जमनिया का बाबा : नागार्जुन, (किताब महल) प्र.सं. 1968, पृ. 84
40. बलचनमा : नागार्जुन, प्र.सं. 1989 (वाणी), पृ. 25
41. कुंभीपाक : नागार्जुन, तृतीय सं. 1978 (राजपाल), पृ. 124
42. बाबा बटेसरनाथ : नागार्जुन, तीसरा सं. 1989 (राजकमल), पृ. 70-71
43. वही : पृ. 68-69
44. नयी पौध : नागार्जुन, प्रकाशन 1980 (राजकमल), पृ. 39
45. रतिनाथ की चाची : नागार्जुन, प्र.सं. (वाणी) 1985, पृ. 27
46. बाबा बटेसरनाथ : नागार्जुन, तीसरा सं. 1989 (राजकमल), पृ. 45
47. जमनिया का बाबा : नागार्जुन (किताब महल) प्र.सं. 1968, पृ.48
48. बलचनमा : नागार्जुन, प्र.सं.1989 (वाणी), पृ. 119

49. बाबा बटेसरनाथ : नागार्जुन, तीसरा सं. 1989 (राजकमल), पृ. 23

50. हिन्दी भक्तिसाहित्य में लोक-तत्त्व : रवीन्द्र भ्रमर पृ. 6

51. बाबा बटेसरनाथ : नागार्जुन, तीसरा सं. 1989 (राजकमल), पृ. 35-36

52. बलचनमा : नागार्जुन, प्र.सं. 1989 (वाणी), पृ. 127

53. वरुण के बेटे : नागार्जुन, प्र.सं. (वाणी) 1984, पृ. 23

54. वरुण के बेटे : नागार्जुन, प्र.सं. (वाणी) 1984, पृ. 65

55. वही : पृ. 27

56. वही : पृ. 59

57. दुखमोचन : नागार्जुन, संस्करण 1981 (राजकमलल), पृ. 60

58. वही : पृ. 43

59. बलचनमा : नागार्जुन, प्र.सं. 1989 (वाणी), पृ. 37

60. वही : पृ. 162

61. वरुण के बेटे : नागार्जुन, प्र.सं. (वाणी) 1984, पृ. 65-66

62. बलचनमा : नागार्जुन, प्र.सं. 1989 (वाणी) पृ. 91

63. वही : पृ. 30

- - - -